International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 26-06-2022, Accepted: 14-07-2022, Published: 27-07-2022
Volume 8, Issue 4, 2022, Page No. 47-51

गढ़वाली लोकगीतों में स्त्री छवियाँ

अमिता प्रकाश
असिस्टैंट प्रोफेसर, हिंदी, रा0 स्ना0 महाविद्यालय सोमेश्वर, अल्मोड़ा, उत्तराखंड, भारत

सारांश
गढ़वाल वर्तमान में संपूर्ण भारत का एक लघु संस्करण है, जिसमें देश के विभिन्न भागों से आकर लोग बसे और धीरे धीरे यहीं के होकर रह गए। प्रकृति से घनिष्ठ संपर्क व लगाव के कारण यहाँ के लोगों ने प्रकृति के सुर में सुर मिलाकर उन्मुक्त कंठ से गीत गाये हैं। यहां का जनमानस कभी प्रकृति के रूप पर आसक्त होकर, तो कभी उसकी शक्तिओं से अभिभूत होकर, उसको देवी देवता के रूप में अपने लोकगीतों में पूजता है, तो वहीं अपने सुख–दुखों से लेकर सामान्य पशु पक्षियों के सुख दूखों को अभिव्यक्ति देते गढ़वाली लोकगीतों की रचना करता है। गढ़वाली लोक गीतों को कई श्रेणियों–उप श्रेणियों में विभक्त किया गया है। शैली के आधार पर एवं विषय के आधार पर वर्गीकृत– तंत्र–मंत्र, देवी देवता, पूजा त्योहार आदि के गीतों के निर्माण में यद्यपि नारी की भूमिका सीमित रही है किंतु खुदेड़ गीत, ऋतु गीत तथा श्रम गीत पूर्णतः नारी ह्रदय से उठीं तरंगें हैं। लोकगीत स्त्री वेदना की अभिव्यक्ति के अत्यंत मार्मिक दस्तावेज होते हैं और इनमें स्त्री स्वर की ही प्रधानता रहती है। गढ़वाल के प्रेम विषयक लोकगीत जहां एक ओ गढ़वाली नारी के रूप और पुरुष की सहृदयता का मनोरम चित्र उपस्थित करते हैं, वहीं खुदेड़ गीतों, श्रम गीतों, व ऋतु गीतों में उसके जीवन के दुख–दर्द व जीवन के कटु अनुभवों की झलक मिलती है।

मूल शब्दः लोकगीत, सांस्कृतिक समृद्धता, खुदेड़ गीत, ऋतु गीत एवं श्रमगीत

प्रस्तावना
हिमालय की उपत्यका में बसे केदारखंड को आज गढ़वाल के नाम से अभिहीत किया जाता है। इतिहास में कभी बावन गढ़ों की यह भूमि वर्तमान में सात जिलों में विभक्त है। प्रकृति ने दिल खोलकर इस पर अपना खजाना लुटाया है। उत्तुंग शिखरों के मध्य वेग से बहती गंगा, यमुना, अलकनंदा जैसी सदानीरा नदियों के साथ साथ असंख्य छोटी–बड़ी स्रोतस्विनी इसकी सुषमा में चार चाँद ही नहीं लगातीं वरन् यहाँ के लोगों को एक अत्यावश्यक प्राकृतिक संसाधन–'जल' मुहैया करवाती हैं। जल की प्रचुरता इस भूमि के लिए वरदान और अभिशाप समय–समय पर साबित हुआ है, यह एक विषयान्तर है, किंतु जल जैसी तरलता यहाँ के लोगों में अनायास ही देखने को मिल जाती है।
गढ़वाल के मूल निवासी कौन थे, इस बारे में मतैक्य नहीं है, किंतु डॉ0 गोविन्द चातक के शब्दों में कहा जा सकता है कि,–''गढ़वाल के मूल निवासी संभवतः खश जाति के लोग थे। आर्यों ने इन्हें पराजित कर दस्यु बना दिया। बाद में जब मध्य देश में राजनैतिक संघर्ष हुए, तो कई भारतीय जातियां शरण की खोज में गढ़वाल पहुंची। पंवार, चौहान, कत्यूरी, राठौर, राणा, गुर्जर, पाल तथा कुछ बंगाल और दक्षिण की ब्राह्मण जाति के लोगों ने इस पर्वतीय प्रदेश को अपने प्राणों और धर्म की रक्षा के लिए सुरक्षित समझकर इसे अपना अधिवास बना लिया।[1] इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गढ़वाल वर्तमान में संपूर्ण भारत का एक लघु संस्करण है, जिसमें देश के विभिन्न भागों से आकर लोग बसे और धीरे धीरे यहीं के होकर रह गए। पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण यहाँ का जीवन निश्चित रूप से यहाँ की भूमि के समान ही विषम है, उबड़ खाबड़ भी कहा जा सकता है। इस विषमता सें यदि सर्वाधिक किसी को जूझना पड़ता है तो वह है यहाँ की नारी। यहाँ स्त्री का दायित्व दोगुना है, क्योंकि पुरुष जीविकोपार्जन हेतु बाहर जाने के लिए विवश है। ऐसी स्थिति में स्त्री को घर ही नहीं, बाहर के दायित्वों का निर्वहन भी स्वयं ही करना पड़ता है।
सामाजिक रूप से पर्दे आदि से स्वतंत्र यहाँ की नारी यहाँ की अर्थव्यवस्था की रीढ़ कही जा सकती है। पलायन का दंश यह क्षेत्र अनादि काल से ही झेलता आ रहा है। पूर्व में यह पलायन युवकों का ही हुआ करता था किंतु आज, भौतिक संसाधनों में बढ़ोतरी के फलस्वरूप तथा स्वास्थ्य एवं शिक्षा जैसी जरूरतों के लिए पूरा परिवार ही पलायन करने को विवश हो गया है। आर्थिक रूप से पिछड़े इस क्षेत्र में संसाधनों का अभाव भले ही नहीं रहा, किंतु संसाधनों के सदुपयोग के अभाव ने यहाँ की जनता को आर्थिक संकट का सामना करने के लिए विवश किया। इतना सब होने पर भी यहाँ सांस्कृतिक समृद्धता देखने को मिलती है। ''यहाँ की भूमि, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, अप्सराओं का पौराणिक अधिवास और ऋषि मुनियों के तप और अजस्र चिंतन तथा दर्शन का एक कल्पना लोक है। चिंतन मनन की इस भूमि में संगीत की भी अजस्र सरिता बहती रही है।''[2] प्रकृति से घनिष्ठ संपर्क व लगाव के कारण यहाँ के लोगों ने प्रकृति के सुर में सुर मिलाकर उन्मुक्त कंठ से गीत गाये हैं। यहां का जनमानस कभी प्रकृति के रूप पर आसक्त होकर, तो कभी उसकी शक्तिओं से अभिभूत होकर, उसको देवी देवता के रूप में अपने लोकगीतों में पूजता है, तो वहीं अपने सुख–दुखों से लेकर सामान्य पशु पक्षियों के सुख दूखों को अभिव्यक्ति देते गढ़वाली लोकगीतों की रचना करता है। वस्तुतः गढ़वाली लोकसाहित्य की अपनी समृद्ध थाती है। गढ़वाली लोक गीतों को कई श्रेणियों–उप श्रेणियों में विभक्त किया गया है। विषय के आधार पर श्री मोहनलाल बाबूलकर द्वारा गढ़वाली लोक गीतों को अधोलिखित श्रेणियों में विभक्त किया गया है– संस्कार के गीत।

देवी देवता, स्तुति, पूजा के गीत। त्योहार गीत। खुदेड़ गीत। ऋतु संबंधी गीत। सामूहिक गीत। तंत्र मंत्र के गीत। श्रमगीत। जातियों के गीत।[3]

शैली के आधार पर– भावात्मक, वर्णनात्मक एवं प्रबंधात्मक गीत दिखाई देते हैं। विषय के आधार पर वर्गीकृत– तंत्र–मंत्र, देवी देवता, पूजा त्योहार आदि के गीतों के निर्माण में यद्यपि नारी की की भूमिका सीमित रही है किंतु खुदेड़ गीत, ऋतु गीत तथा श्रम गीत पूर्णतः नारी हृदय से उठीं तरंगें हैं। यही स्थिति शैली के आधार पर वर्गीकृत भावात्मक गीतों की भी है। वैसे भी, लोकगीतों के विषय में यह प्रायः कहा जाता है कि ये स्त्री वेदना की अभिव्यक्ति के अत्यंत मार्मिक दस्तावेज होते हैं और इनमें स्त्री स्वर की ही प्रधानता रहती है। गढ़वाल के अभावग्रस्त आर्थिक जीवन की सबसे अधिक मार स्त्रियों को ही झेलनी पड़ी है। बेटी, पत्नी और बहू के साथ–साथ एक प्राणी के रूप में महिलाओं ने अनेकों कष्ट उठाए हैं। नारी की अदम्य जिजीविषा ने जहाँ एक ओर अनेक श्रम गीतों को रचा, वहीं एक बेटी और पत्नी के रूप में वह खुदेड़ गीतों की गायिका रही–

''करि त सिंगार,
बालो दिल यैसो बुझि जैसो कि अंगार।
काटी जालो घास,
मन मेरो मरयूं च सरील उदास।''[4]

(पति के प्रवास जाने पर पत्नी अपनी व्यथा का चित्रण कुछ इन शब्दों में करती है कि उसने श्रृंगार भले ही किया है किंतु एसका मन किसी कोयले की भांति बुझा हुआ है।)

सावन भादो की अंधेरी काली रातों में उसका पति वियोग इन शब्दों में छलक पड़ता है–

भादों की अंधेरी झकझोर।
न वास ना बास पापी मोर।
तुम तैं मेरा स्वामी कन सूझी।
आंसु न चदरी मेरी रुझी।
तुमरा बिन क्य लाणी–खाणी?
मन की मन मां रैन गाणीं। [5]

पति के दूर जाने से तो वह आहत है ही जिसे वह जैसे–तैसे झेल लेगी किंतु उसका असली दर्द तब गीतों में ढलकर करुणा पैदा करता है जब न पति की चिट्ठी आती है न वह खुद घर आता है, लेकिन वह साहूकार बार– बार ओकर उसे तंग करता है जिससे कर्ज लेकर पति 'बाहर' चला गया है–

चली त रेल भै बाजी सीटी
निर्दयी स्वामी नि देंदा चिट्ठी।
पाणी का जाज मोड़्यों तर,
निर्दयी स्वामी नि औन्दा घर।
फूलू मा सब फूल फूली गैन।
निर्दयी स्वामी मैं भूलि रैन।''[6]

पत्नी या प्रेयसी तो अपनी स्थिति का वर्णन करती ही है, गांव के अन्य लोग–ननद, देवर भी उसके दुख को अपने ढ्ग से व्यक्त करते हैं–

पाणी भरी कुंई प्यारी लगसमी बौ
तोता जी की याद औंदी प्यारी लगसमी बौ
नी थमेंदी रोईं प्यारी लगसमी बौ।''[7]

पत्नी ही नहीं बेटी के रूप में मायके की स्मृति उसे बार बार रुलाती है। दरअसल तत्कालीन समाज में किसी घर में बहू लाने का मुख्य उद्देश्य एक बौल (बेगार श्रमिक) जुटाना भर होता था। सालभर खेतीबाड़ी और घर–गृहस्थी के कामों में उलझी बेटी के लिए मायके जाना किसी संघर्ष से कम नहीं था। ससुराल का कठिन जीवन उसे बार–बार मायके की याद दिलाता है–

''डांडू फूल फ्यूंलड़ी।
गाडू बासे म्यूलड़ी।
मैनु आयो चैत को।
हरी ह्वेन डॉली फूलों की।
मैं खुद लगी भोलू की।
कभी मैत मैं जांदू नीं।
बाबा, मैं बुलांदू नी।''[8]

मातृविहीन कन्या का यह कारुणिक विलाप अन्यत्र इन शब्दो में अभिव्यक्त होता है–

मैंतू वाली मैत होली
निरमैतिण रोली यखुली?
नि रोणु छोरी पापड़ी।
क्वी नी तेरो आपड़ी।
काका बोडो मां रोणू नी।
अपणो रंग खोणू नी।[9]

खुदेण गीतों के अतिरिक्त श्रमगीतों को रचने में भी महिलाओं की अहम् भूमिका रही। श्रम उनके लिए जीने की अनिवार्य शर्त है। निरंतर खेती के कामों में स्वयं को खपाने वाली यहां की नारी कभी कभी अपने अभावग्रस्त जीवन से तंग आकर वह उस जगह से कहीं ऐसी जगह ले चलने का आग्रह अपने प्रिय से करती है–

वै देस जौंला भंडारी झमको,
जै देस मेला मां खेती झमको
वै देस जौंला भंडारी झमको
जै देस चुला खांद पाणि झमको।''[10]

पहाड़ में पानी एक बड़ी समस्या सदैव से रहा है। पानी के लिए औरतों के 'फांस'(फांसी) तक खाने के गीत गढ़वाली लोक गीतों में पाए जाते हैं–

हे सुमा प्यारी सुमा
कतगा रै ह्वेली खैरी,
निरपणी गौं मां सुमा,
तिल ढंडी फाल मारी।''

घास, लकड़ी के लिए जंगल–जंगल, भटकती स्त्री की छवि भी अनेक गीतों में दिखाई पड़ती है। एक तो वैसे ही जानवरों के लिए घास, लकड़ी का अभाव, ऊपर से जंगलों में प्रवेश पर प्रतिबंध–

फुली जाली जई
बांज कटदरी कै गौं की छई।
बाबूला कि कूची
कै भि गौं की होली, तू क्या कद्दू पूछि,
गिंजाला की गांज।
सरकारी जंगलों के कटदी बांज
थकूला की थरी
राजा कों कू मरी जौंन बंद जंगल करी।''[11]

आर्थिक जीवन की विषमताओं को झेलने के साथ साथ वह सामाजिक जीवन की भी धुरी है। सभी रस्मों के निर्वहन में उसकी अहम भूमिका होती है। इसलिए शादी ब्याह में मांगलगीत का गायन हो या अन्य सामाजिक रस्में उसकी उपस्थिति अनिवार्य बनी रहती है। विवाह का प्रथम न्यौता (निमंत्रण) भगवान व पंडित के बाद सुहागिन को ही भेजा जाता है– ''पैलो न्यूतो न्यौता, बैणी सुहागिण...जैसे गीतों के माध्यम से समाज में उसकी भूमिका का पता स्वतः ही चल जाता है। खेतों में रोपाई का अवसर हो या दालानों में मंडाई, स्त्री की कर्मठता पुरुष पर हर जगह भारी पड़ती है। इतना सब होने पर भी गढ़वाल के लोक गीतों में नारी की छवि किसी सशक्त और जिम्मेदार मनुष्य की नहीं, वरन एक बेचारी व किस्मत की मारी के रूप में ही दिखती है। कन्या के रूप में उसके जन्म पर यद्यपि कोई शोक लोकगीतों में नहीं दिखता, किंतु विवाह के अवसर पर पिता की विवशता, अर्थाभाव और पैसे के लालच में अनमेल विवाह, बाल विवाह या उम्रदराज व्यक्ति से विवाह का जिक्र अवश्य मिलता है। पैसे के लालच में उम्रदराज वर के साथ विवाह के अनेकों लोक गीत प्राचीन समय में इस पर्वतीय समाज के कटु यथार्थ पर कड़वी टिप्पणी करते हुए जान पड़ते हैं–

हे बोई तू निच बोई मेरी।
मेरा टकों की नथुली पैरी,
बाबा न नि देखो बुढ़या को रूप,
चुल्ला पिछाड़ी जिलारा कु थूप।''[12]

पित्रसत्तात्मक समाज की कुरूपता के कई अन्य रूप–जिसमें नारी को मात्र वस्तु मान लिया जाता है, भी इन लोकगीतों में देखने को मिल जाते हैं। स्त्री जीवन को विकटताओं व विद्रूपताओं को इंगित करने वाले इन गीतों में सास और ननद की छवि क्रूर स्त्री के रूप में उभरती है–

पाकी त भोज जिया पाकी त भोज
सासु देंद जिया आदा ख्वटि रोज,
फूली जा ली लैण जिया, फूली जाली लैंण
जवैं च मेरो छोटो जिया सासू मेरी डैण,
कुटला को बेन्डू मांजी कुटला को बेंडू,
सासुजी न करे मांजी जिकुड़ी माँ छेंडू
चरी जाला गोरु मांजी चरी जाला गोरु
सूखी देंद रोटी मांजी लोण देंद कोरु।''[13]

वस्तुतः पितृसत्ता के बंधनों में जकड़ी, उन्हीं परंपराओं–संस्कारों में पली–बढ़ी महिला कैसे दूसरी महिला की दुश्मन बन जाती है, उसे इसका आभास तक नहीं होता। पितृसत्ता के इन्हीं संस्कारों रीति रिवाजों की देन है कि जन्मदात्री माँ तक अपनी छाया को विवाह नामक संस्था के लिए न केवल दूर कर देती है बल्कि विवाह की इस परंपरा के निर्वहन में कभी–कभी बेटी का अनचाहा अनिष्ठ भी कर बैठती है–

काटी त खड़ीक माँजी काटी त खड़ीक
तेरी कोली राला मांजी तेरा स्ये लड़ीक
सिरा को फूल मांजी सिराकु फूल
बाबू कु लड़ीक हूँदू मैं जांदू स्कूल''[14]

यह ताना सिर्फ माँ बाप को नहीं संपूर्ण व्यवस्था के ऊपर है जिसमें उसका रोष भी उभरता है। इस सबके बावजूद अपनी जड़ों से कटी, वह स्वाभाविक रूप से बार बार लौटना चाहती हैं अपने मायके की ओर। गढ़वाली खुदेड़ गीत उसकी इसी चाहना की सफल अभिव्यक्ति है।

भादो कु मैना बौड़ि ऐगे, खुदेड़ पराणी उलारी ह्वेगे,
द्वी दिन अब मैत मिं जौंलु भै बैणियूं थै भेंटी कि औलु''

इन खुदेड़ गीतों की बेटी और पत्नी के अतिरिक्त नारी के पत्नी, प्रेयसी और रूप लावण्य से युक्त युवतियों की छवियाँ भी गढ़वाली लोक गीतों में सहज सुलभ है। रूप सौंदर्य यहाँ प्रकृति ने जमकर लुटाया है। चाहे प्राकृतिक हो या मानवीय, यहाँ की स्त्रियां अपने रूप लावण्य पर गौरवान्वित व अभिभूत सी हैं–

भिंडी काटू बांज मोरू, पूला बांधी ले दस,
तेरो रूप देखिक सूखी मेरू जिया बस।
दौंता की मुखड़ी मां जनी तस्वीर टंगी च
दौता की माया न सरी दुनिया रंगी च
दौंता कि सी मुखड़ी तस्वीर मां नि च''[15]

गढ़वाल के प्रेम विषयक लोकगीत गढ़वाली नारी के रूप और पुरुष की सहृदयता का मनोरम चित्र उपस्थित करते हैं। नखशिख वर्णन साहित्य की प्राचीन परंपरा है जिसका अनुकरण यहां के लोकगीतों में भी दिखायी देता है। नारी रूप के चित्रण के लिए अधिकांश उपमान प्रकृति से ही लिए गए हैं–

हे ळठ्यालि दादू कैकि बौराण छ?
धुंवा सी धुपली, पाणि सी पतली
वेला सी गलखी, नौणि सी गुंदकी,
दिवा जस जोत कैकि बौराण छ?''[16]

वस्तुतः लोकसाहित्य में लोकगीत नारी जीवन का जीवंत दस्तावेज होते हैं। इस संदर्भ में डॉ0 विद्या बिंदु सिंह का कथन है–''लोकसाहित्य की नारी विषयक संवेदना अपना शाश्वत स्वरूप रखती हैं। उसमें नारी जीवन का इतिहास, उसके सुख–दुःख उसकी पीड़ा सभी सहज रूप से मुखरित हुई है।''[17] डॉ0 सिंह का यह कथन गढ़वाली लोकगीतों में वर्णित स्त्री के संबंध में भी अक्षरशः लागू होता है। गढ़वाली लोकगीतों में यहां की नारी ने अपना हृदय उघाड़ कर रख दिया है, घास–लकड़ी काटते, जंगल–जंगल भटकते, खेतों में, चूल्हे–चक्की पर अपने श्रमबिंदु टपकाते जब वह अपने मन की अभिव्यक्ति किसी 'सौंजण्या' से नहीं कर पाती तो उसकी आह और कराह गीतों के रूप में निकल पड़ती है। वस्तुतः यहां की प्रत्येक दबी–कुचली नारी कवियत्री है और उसी ने इन गीतों का प्रणयन किया है। गढ़वाली लोकगीतों का बहुत बड़ा अंश स्त्रियों के गीतों का है जिनको यहां की असंख्य मीराओं व महादेवियों ने आत्मपीड़ा–जो श्रम, विकट जीवन, प्रिय के वियोग, मायके की स्मृतियों से उपजी है–में गाया है।

संदर्भ सूची

1. गोविन्द चातक, गढ़वाली लोक गीत, जुगल किशोर एंड कंपनी, देहरादून 1956, पृष्ठ–2
2. वही – पृष्ठ–27

3. बाबुलकर मोहनलाल लोकवार्ता, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ 1881, पृष्ठ–27
4. गोविन्द चातक, गढ़वाली लोक गीत, जुगल किशोर एंड कंपनी, देहरादून 1956, पृष्ठ–152
5. वही – पृष्ठ–167
6. वही – पृष्ठ–179
7. वही – पृष्ठ– 108
8. वही – पृष्ठ– 195
9. वही – पृष्ठ– 196
10. वही – पृष्ठ– 77
11. वही – पृष्ठ– 132
12. गोविन्द चातक, गढ़वाली लोक गीत, जुगल किशोर एंड कंपनी, देहरादून 1956, पृष्ठ–205–206
13. गोविन्द चातक, गढ़वाली लोक गीत, जुगल किशोर एंड कंपनी, देहरादून 1956, पृष्ठ–209
14. गोविन्द चातक, गढ़वाली लोक गीत, जुगल किशोर एंड कंपनी, देहरादून 1956, पृष्ठ–201
15. गोविन्द चातक, गढ़वाली लोक गीत, जुगल किशोर एंड कंपनी, देहरादून 1956, पृष्ठ–81
16. वही – पृष्ठ–83
17. सिंह, विद्या बिंदु, अवधी लोकगीत विरासत, ज्ञान विज्ञान एजंकेयर प्रकाशन, नई दिल्ली 2016 पृष्ठ–338